National Journal of
Hindi & Sanskrit Research

ISSN: 2454-9177
NJHSR 2026; 1(64): 51-55
© 2026 NJHSR
www.sanskritarticle.com

साक्षी त्रिपाठी
शोधार्थी,
महाराजा छत्रसाल बुंदेलखंड-विश्वविद्यालय, छतरपुर (म. प्र.)

शोध निर्देशक
डॉ० बृजमोहन द्विवेदी
प्राध्यापक,
शासकीय महाराजा छत्रसाल-महाविद्यालय महाराजपुर,
जिला- छतरपुर

Correspondence:
साक्षी त्रिपाठी
शोधार्थी,
महाराजा छत्रसाल बुंदेलखंड-विश्वविद्यालय, छतरपुर (म. प्र.)

हिन्दी कथा-साहित्य में कामकाजी स्त्री: अस्मिता, संघर्ष और अंतर्द्वंद्व

साक्षी त्रिपाठी, डॉ० बृजमोहन द्विवेदी

सारांश –

प्रस्तुत शोध-आलेख समकालीन हिन्दी कथा-साहित्य के माध्यम से कामकाजी स्त्रियों के बहुआयामी जीवन, उनकी बदलती सामाजिक भूमिका और आंतरिक संघर्षों का गहन विश्लेषण करता है। शोध का केंद्रबिंदु यह पड़ताल करना है कि पितृसत्तात्मक समाज में आर्थिक आत्मनिर्भरता प्राप्त करने के बाद स्त्री की अस्मिता किस प्रकार पुनर्परिभाषित हो रही है। इस आलेख में रेखांकित किया गया है कि कामकाजी होने की अनिवार्य शर्त केवल 'वेतन' नहीं, बल्कि 'श्रम की स्वतंत्र पहचान' और 'प्रतिदान' है। अध्ययन के लिए मंजुल भगत, उषा प्रियंवदा, ममता कालिया, मृदुला गर्ग और मन्नू भंडारी जैसी लेखिकाओं के कथा-साहित्य को आधार बनाया गया है। विश्लेषण के क्रम में यह उभरकर आता है कि कामकाजी स्त्री केवल एक आर्थिक इकाई नहीं है, बल्कि वह 'दोहरे उत्तरदायित्व' के तले दबी एक संघर्षशील मनुष्य है। जहाँ एक ओर 'अनारो' और 'भौंरी' जैसे चरित्र निम्नवर्गीय श्रमजीवी स्त्री के स्वाभिमान और जुझारूपन को दर्शाते हैं, वहीं 'शकुन' और 'मनीषा' जैसे चरित्र मध्यवर्गीय शिक्षित स्त्रियों के अहं, आधुनिकता और पारंपरिक संस्कारों के बीच उपजे मनोवैज्ञानिक अंतर्द्वंद्व को उजागर करते हैं। यह शोध स्पष्ट करता है कि हिन्दी कथा-साहित्य में कामकाजी स्त्री का चित्रण केवल उसके बाहरी विकास का दस्तावेज़ नहीं है, बल्कि यह उसके 'स्व' की खोज और घर-बाहर के संतुलन के बीच होने वाले निरंतर मानसिक टकरावों का यथार्थवादी चित्रण है। समाज में उसकी स्वीकृति आज भी इस बात पर निर्भर है कि वह कार्यक्षेत्र की सफलता के साथ घरेलू मोर्चे पर कितनी 'समर्पिता' और 'सहनशील' बनी रहती है।

बीजशब्द - कामकाजी स्त्री, अस्मिता, संघर्ष, अंतर्द्वंद्व, हिन्दी कथा-साहित्य, आर्थिक आत्मनिर्भरता, पितृसत्तात्मक संरचना, दोहरा उत्तरदायित्व।

शोध-आलेख -

स्त्री का जीवन आरंभ से ही संघर्षों और चुनौतियों से घिरा हुआ रहा है। जन्म के क्षण से लेकर मृत्यु तक वह निरंतर सामाजिक मर्यादाओं, पारिवारिक अपेक्षाओं और सांस्कृतिक अनुशासन के दायरे में स्वयं को स्थापित करने का प्रयास करती रहती है। उसका जीवन केवल निजी नहीं रहता, बल्कि सामाजिक नियंत्रण और सामूहिक मान्यताओं द्वारा निरन्तर निर्देशित होता है। पुरुष-प्रधान समाज में स्त्री की पहचान प्रायः उसके स्वतंत्र व्यक्तित्व से नहीं, बल्कि संबंधों के माध्यम से निर्धारित की जाती है—वह किसी की पुत्री, पत्नी अथवा बहू के रूप में पहचानी जाती है। इस प्रकार उसकी अस्मिता स्वयं में नहीं, बल्कि 'किसी से जुड़ी हुई' अवस्था में स्वीकार की जाती है।

ऐसी परिस्थिति में जब स्त्री स्वतंत्र अस्तित्व, आत्मनिर्भरता और आत्मसम्मान की दिशा में कदम बढ़ाती है, तो उसे सबसे पहले अपने ही परिवार और समाज के प्रतिरोध का सामना करना पड़ता है।

यह विरोध केवल व्यक्तिगत स्तर तक सीमित नहीं होता, बल्कि उसके पीछे एक गहरी सामाजिक मानसिकता सक्रिय रहती है, जो स्त्री की स्वतंत्रता को संदेह और भय की दृष्टि से देखती है। समाज अब भी यह अपेक्षा करता है कि स्त्री अपनी आकांक्षाओं, इच्छाओं और स्वप्नों को पारिवारिक मर्यादाओं के अधीन रखे। परिणामस्वरूप उसकी स्वतंत्र चेतना को अनुशासन, त्याग और सहनशीलता के नाम पर सीमित करने का प्रयास किया जाता है।

समकालीन हिन्दी कथा-साहित्य में स्त्री के इसी संघर्षशील और जटिल जीवनानुभव को विविध रूपों में अभिव्यक्ति मिली है। साहित्य अब स्त्री को केवल करुणा या सहानुभूति का पात्र नहीं मानता, बल्कि उसे एक संघर्षरत, सोचने-समझने वाली और निर्णय लेने में सक्षम मनुष्य के रूप में प्रस्तुत करता है। विशेष रूप से प्रवासी और कामकाजी स्त्री का जीवन आज के साहित्य में एक महत्वपूर्ण विषय के रूप में उभरकर सामने आया है। यह वह स्त्री है जो भौगोलिक सीमाओं को पार कर नए सामाजिक-सांस्कृतिक परिवेश में स्वयं को स्थापित करने का प्रयास करती है।

आधुनिक सामाजिक संरचना में स्त्री की पहचान केवल पारिवारिक भूमिकाओं तक सीमित नहीं रह गई है। आर्थिक आवश्यकताओं, सामाजिक परिवर्तन और स्त्री–चेतना के विकास ने स्त्री को घरेलू दायरे से बाहर निकलकर सार्वजनिक और उत्पादक श्रम से जोड़ दिया है। परिणामस्वरूप 'कामकाजी स्त्री' की अवधारणा सामने आती है, जिसे केवल कार्यालयों, संस्थानों अथवा औपचारिक रोजगार से जोड़कर नहीं देखा जा सकता। वस्तुतः स्त्री का वह प्रत्येक श्रम, जो परिवार की परिधि से बाहर आर्थिक मूल्य ग्रहण करता है अथवा जिसके लिए उसे पारिश्रमिक प्राप्त होता है, कामकाजी श्रेणी में आता है। यहाँ यह स्पष्ट करना आवश्यक है कि कामकाजी स्त्री की पहचान केवल शिक्षित, शहरी या मध्यवर्गीय स्त्री तक सीमित नहीं है, बल्कि ग्रामीण, श्रमिक वर्ग तथा असंगठित क्षेत्र में कार्यरत स्त्रियाँ भी इसी श्रेणी में आती हैं। खेतों, निर्माण स्थलों, कारखानों तथा घरेलू उद्योगों में कार्यरत स्त्रियाँ सामाजिक दृष्टि से प्रायः अदृश्य बना दी जाती हैं, जबकि उनका श्रम परिवार और समाज दोनों के लिए अनिवार्य होता है। इसलिए 'कामकाजी' होने की शर्तों को स्पष्ट रूप से परिभाषित करना आवश्यक हो जाता है, जिससे स्त्री के श्रम को उचित सामाजिक और आर्थिक मान्यता मिल सके। डॉ. रोहिणी अग्रवाल के मतानुसार "कामकाजी होने के लिए दो बातें विशेष रूप से अनिवार्य हैं प्रथम उसका कार्य पति अथवा परिवार के सदस्यों से स्पष्ट रूप से या तो पृथक हो या पृथक मान्यता प्राप्त हो। दूसरे उसे अपने श्रम का प्रतिदान मिलें। उल्लेखनीय है कि पति के साथ-साथ ईंट-गारा ढोनेवाली स्त्री-मजदूरों को इसी अर्थ में कामकाजी माना जाता हैं।"[1]

'कामकाजी नारी' की अवधारणा आधुनिक सामाजिक-आर्थिक परिवर्तनों की देन है। जैसे-जैसे स्त्री पारंपरिक घरेलू भूमिकाओं से बाहर निकलकर सार्वजनिक और आर्थिक क्षेत्र में सक्रिय हुई, वैसे-वैसे उसके श्रम की पहचान और परिभाषा को लेकर वैचारिक मतभेद भी सामने आए। विद्वानों ने अपने-अपने अध्ययन-क्षेत्र और दृष्टिकोण के आधार पर 'कामकाजी स्त्री' की अलग-अलग परिभाषाएँ प्रस्तुत की हैं। कहीं यह परिभाषा वेतन आधारित श्रम तक सीमित है, तो कहीं शिक्षित एवं कार्यालयों में कार्यरत स्त्रियों को ही इसका प्रतिनिधि माना गया है। इस संदर्भ में डॉ. प्रमीला कपूर और डॉ. अनिल गोयल के विचार उल्लेखनीय हैं। डॉ. प्रमीला कपूर के अनुसार— "कामकाजी नारी यह शब्द उन स्त्रियों के लिए प्रयुक्त हुआ है जो वेतनवाले कामधंधे में लगीं हैं, उनके लिए नहीं, जो समाज सेवा में रत हैं या अवैतनिक रूप से काम करती हुई, अपनी-अपनी आजीविका चला रही हैं।"[2]

इसी प्रकार डॉ. अनिल गोयल ने भी अपेक्षाकृत संकीर्ण अर्थ में इस शब्द का प्रयोग किया है। उनके अनुसार— "दफ्तरों में काम करनेवाली शिक्षित नारियों को कामकाजी माना है।"[3] इन दोनों कथनों से स्पष्ट होता है कि 'कामकाजी नारी' की अवधारणा को विद्वानों ने मुख्यतः वेतन, शिक्षा और औपचारिक कार्यक्षेत्र से जोड़कर देखा है। डॉ. प्रमीला कपूर जहाँ वेतन प्राप्त करने को कामकाजी होने की अनिवार्य शर्त मानती हैं, वहीं डॉ. अनिल गोयल शिक्षित एवं कार्यालयों में कार्यरत स्त्रियों को ही इस श्रेणी में स्थान देते हैं। परिणामस्वरूप समाज सेवा, असंगठित क्षेत्र, घरेलू उद्योग अथवा पारिवारिक सहयोग के रूप में किए गए स्त्री-श्रम को प्रायः इस परिभाषा से बाहर कर दिया जाता है।

हालाँकि यह दृष्टि स्त्री-श्रम की व्यापक वास्तविकता को पूर्णतः प्रतिबिंबित नहीं करती। ग्रामीण क्षेत्रों, निर्माण कार्यों, खेत-खलिहानों तथा घरेलू उत्पादन में लगी असंख्य स्त्रियाँ आर्थिक रूप से सक्रिय होते हुए भी 'कामकाजी' की पारंपरिक परिभाषा में स्थान नहीं पा सकीं। इसलिए आधुनिक आलोचना यह अपेक्षा करती है कि 'कामकाजी नारी' की संकल्पना को अधिक व्यापक, समावेशी और यथार्थपरक रूप में समझा जाए, ताकि स्त्री के प्रत्येक प्रकार के श्रम को सामाजिक एवं आर्थिक मान्यता मिल सके।

हिन्दी साहित्य में कामकाजी स्त्रियों के जीवन, संघर्ष और आत्मनिर्भरता को केंद्र में रखकर लेखन करने वाली प्रमुख लेखिकाओं में महादेवी वर्मा, कृष्णा सोबती, मन्नू भंडारी, उषा प्रियंवदा, मृदुला गर्ग, शिवानी, चित्रा मुद्गल, मंजुल भगत, नासिरा शर्मा, प्रभा खेतान, अलका सरावगी, मृणाल पांडे, गीता हरिहरन, अनामिका, राजी सेठ, सारा राय, कात्यायनी, मैत्रेयी पुष्पा, गीतांजलि श्री तथा संजीवनी उल्लेखनीय हैं; इन सभी लेखिकाओं ने अपने-अपने

साहित्यिक परिवेश में शिक्षित, मध्यवर्गीय, निम्नवर्गीय और श्रमजीवी स्त्रियों के कार्यजीवन, आर्थिक आत्मनिर्भरता, पारिवारिक-सामाजिक दबावों और स्त्री-चेतना को विविध रूपों में अभिव्यक्त कर हिन्दी साहित्य में 'कामकाजी स्त्री' के विमर्श को सुदृढ़ एवं व्यापक बनाया है।

मंजुल भगत के उपन्यास अनारो की नायिका अनारो निम्नवर्गीय कामकाजी स्त्री का सशक्त प्रतिनिधि चरित्र है। वह घर-घर झाड़ू-पोछा, बर्तन और कपड़े धोकर अपने परिवार का भरण-पोषण करती है। ईमानदार, आत्मनिर्भर और स्वाभिमानी होते हुए भी अनारो रूढ़ियों से बँधी तथा सामाजिक रूप से भीरु है। उसका पति नंदलाल इसके विपरीत आलसी, कामचोर, चरित्रहीन और गैर-जिम्मेदार पुरुष है, जो गृहस्थी का संपूर्ण भार अनारो पर छोड़कर बार-बार घर से भाग जाता है और लौटने पर शराब के नशे में उसके साथ हिंसा करता है। नंदलाल का छबीली नामक स्त्री से संबंध और उसे सौत के रूप में घर लाने की इच्छा अनारो के जीवन-संघर्ष को और जटिल बना देती है। इसके बावजूद अनारो अपने पति से रुष्ट नहीं होती और उसकी प्रतीक्षा करती रहती है। उसका श्रम ही उसकी असली पूँजी है, जो उसे सम्मानजनक जीवन देता है—काम ही उसके लिए सुहाग और स्वामी है। इज्जत की जिंदगी जी रही है। उसका काम ही उसके लिए सब कुछ है "काम ही ने तन -ढँका। काम ने ही पेट भरा। फिर काम ही सुहाग, काम ही स्वामी।"[4] अनारो–नंदलाल का संबंध निम्नवर्गीय जीवन की यथार्थपूर्ण और मार्मिक तस्वीर प्रस्तुत करता है, जहाँ कठोर बाह्य व्यक्तित्व के भीतर अनारो का हृदय अत्यंत कोमल और संवेदनशील है, और वह परिस्थितियों के बीच भी त्याग और सहनशीलता की मिसाल बनकर उभरती है।

पचपन खंभे लाल दीवारें में उषा प्रियंवदा ने भौंरी के चरित्र के माध्यम से एक ईमानदार, कर्मठ और निष्ठावान कामकाजी स्त्री का संवेदनशील चित्र प्रस्तुत किया है। भौंरी सुषमा की नौकरानी है, जिसका दायित्व चाय–नाश्ता बनाना, रसोई सँभालना और घर की देखरेख करना है। वह अपने काम के प्रति पूरी तरह समर्पित है और सुषमा का विशेष ध्यान रखती है; यहाँ तक कि अनुचित समय पर स्नान के लिए पानी गरम करने जैसी बात पर भी वह सुषमा की सेहत को लेकर चिंता प्रकट करती है।एक बार सुषमा की माँ यह सलाह देती हुई कहती है कि, "आखिर इतनी गृहस्थी फैलाने की जरूरत क्या है सुषमा ? भौंरी को निकाल दो और होस्टेल के नौकरों से काम करवाओ।"[5] सुषमा के बाहर जाने पर भौंरी पूरे घर और आनेवाले मेहमानों की जिम्मेदारी सँभालती है। सुषमा के प्रयास से ही उसे हॉस्टल की सफाई का काम भी मिलता है, जिससे उसकी आजीविका सुरक्षित होती है। सुषमा की माँ भौंरी को निकाल देने की सलाह देती है, पर सुषमा उस पर ध्यान नहीं देती क्योंकि वह भौंरी पर भरोसा करती है और उसके प्रति स्नेह रखती है। माँ का विरोध वस्तुतः अपरिचय और स्त्री-मन में छिपी ईर्ष्या का परिणाम है। इस प्रकार भौंरी का चरित्र उपन्यास में न केवल एक विश्वसनीय घरेलू कामगार के रूप में उभरता है, बल्कि श्रम, निष्ठा और मानवीय संबंधों की गरिमा को भी रेखांकित करता है।

नरक दर नकर में ममता कालिया ने सीता गुप्ता के चरित्र के माध्यम से एक आदर्श, कर्मठ और प्रतिबद्ध कामकाजी स्त्री का चित्र प्रस्तुत किया है। सीता गुप्ता मूलतः संस्कृत की अध्यापिका होते हुए भी जब विद्यालय में उसे हिन्दी विषय पढ़ाने का दायित्व सौंपा जाता है, तब वह उसे पूरे मनोयोग और जिम्मेदारी के साथ निभाती है। अध्यापन के प्रति उसकी निष्ठा का परिचायक यह है कि वह प्रत्येक कवि और पाठ को पढ़ाने के लिए गहन अध्ययन करती है, यहाँ तक कि लेक्चर तैयार करने में उसका परिश्रम किसी शोध छात्र से कम नहीं लगता। अध्ययनशीलता, उत्साह और परिश्रम उसके व्यक्तित्व के प्रमुख गुण हैं, जिनके कारण वह विद्यार्थियों में प्रिय और सम्मानित है। वह लिखती है - "इतना अध्ययन शायद कोईशोध छात्र भी न करते होंगे, जितना वह लेक्चर तैयार करने में करती है।"[6] वह एकतीन बच्चों वाली गृहस्थी संभालते हुए भी सीता अपने पारिवारिक दायित्वों और पेशेवर कर्तव्यों के बीच संतुलन स्थापित करती है। इस प्रकार सीता गुप्ता का चरित्र शिक्षित, जिम्मेदार और आत्मसमर्पित कामकाजी स्त्री के रूप में उभरता है, जो श्रम, अनुशासन और निष्ठा के बल पर अपनी पहचान बनाती है।

उसके हिस्से की धूप में मृदुला गर्ग ने मनीषा के चरित्र के माध्यम से स्वेच्छा से कार्य करने वाली शिक्षित, आत्मचेतस कामकाजी स्त्री का चित्र प्रस्तुत किया है। मनीषा ने हिन्दी साहित्य में एम.ए. किया है और वह बेंगलूर के एक कॉलेज में हिन्दी साहित्य अध्यापिका के रूप में कार्यरत है। उसके लिए नौकरी करना किसी प्रकार की आर्थिक विवशता का परिणाम नहीं है, क्योंकि उसका पति एक संपन्न उद्योगपति है और आर्थिक दृष्टि से उसे किसी अभाव का सामना नहीं करना पड़ता। इसके बावजूद मनीषा का नौकरी करना उसकी आत्मनिर्भरता, बौद्धिक संतुष्टि और व्यक्तिगत पहचान की आकांक्षा का संकेत है। यद्यपि इक्कीस वर्ष की आयु में उसमें कुछ हद तक बचकानी भावुकता दिखाई देती है, फिर भी उसका कार्यजीवन यह स्पष्ट करता है कि वह केवल गृहस्थी तक सीमित रहने वाली स्त्री नहीं है। मनीषा का चरित्र आधुनिक शहरी शिक्षित स्त्री का प्रतिनिधित्व करता है, जो आर्थिक निर्भरता से मुक्त होकर भी अपने अस्तित्व और आत्मसम्मान के लिए कार्यक्षेत्र को चुनती है।

आधुनिक कामकाजी स्त्री की मानसिक स्थिति आज एक संक्रमणकाल से गुजर रही है, जहाँ एक ओर उसने आधुनिकता को जीवन-शैली और फैशन के रूप में आत्मसात किया है, वहीं दूसरी ओर उसके मन में पारंपरिक संस्कार गहराई से जड़ जमाए हुए हैं। इसी कारण उसके भीतर निरंतर संस्कार और आधुनिक बोध के बीच द्वंद्व बना रहता है, जो उसे सहज, स्वाभाविक और संतुलित जीवन जीने से रोकता है। मन्नू भंडारी कृत आपका बंटी की नायिका शकुन इस मानसिक द्वंद्व का ज्वलंत उदाहरण है। छत्तीस वर्षीय, आधुनिक विचारों से युक्त और स्वतंत्र व्यक्तित्व वाली शकुन एक आत्मनिर्भर कामकाजी स्त्री है, जो कॉलेज की प्रिंसिपल के रूप में प्रशासनिक दायित्वों को कुशलता से निभाती है। प्रिंसिपल की कुर्सी पर बैठते ही उसका अधिकारी रूप पूरी तरह उभर आता है—वह आदेश देती है, सलाह करती है और आवश्यकता पड़ने पर कठोरता भी दिखाती है। कॉलेज के परिवेश में उसका यह व्यक्तित्व घरेलू रूप से सर्वथा भिन्न है। आर्थिक स्वतंत्रता ने उसके भीतर आत्मविश्वास के साथ-साथ अहं का भाव भी विकसित किया है, जिसके कारण वह अपने पति को गौण और हीन स्थिति में देखने की मानसिकता रखती है। इस प्रकार शकुन का चरित्र आधुनिक कामकाजी स्त्री की उस विडंबनापूर्ण स्थिति को उजागर करता है, जहाँ आर्थिक और सामाजिक सशक्तता के बावजूद वह आंतरिक संतुलन और भावनात्मक सहजता से वंचित रह जाती है।माँ की पारंपरिक छवि भले ही आदर्श, ममतामयी और त्यागपूर्ण मानी जाती रही हो, किंतु यथार्थ में माँ भी एक साधारण स्त्री होती है, जिसमें मानवीय दुर्बलताएँ और स्वार्थ विद्यमान रहते हैं। मन्नू भंडारी कृत आपका बंटी की नायिका शकुन इस यथार्थ को और भी जटिल रूप में प्रस्तुत करती है, क्योंकि वह केवल माँ ही नहीं, बल्कि एक आत्मनिर्भर कामकाजी महिला भी है। कॉलेज की प्रिंसिपल होने के नाते शकुन आर्थिक रूप से स्वावलंबी, निर्णयक्षम और सशक्त स्त्री है, पर यही कार्यगत सत्ता और आत्मनिर्भरता उसके निजी संबंधों में अहं और अधिकार-बोध को जन्म देती है। उसका बेटा बंटी उसकी समस्त आशाओं और आकांक्षाओं का केंद्र है। अजय से संबंध विच्छेद के बाद वह बंटी से अलग रह पाने में असमर्थ रहती है और अपने मातृत्व को पति के विरुद्ध प्रतिशोध का माध्यम बना लेती है—"बंटी केवल उसका बेटा ही नहीं है, वह हथियार भी है जिससे वह अजय को टॉर्चर कर सकती है, करेगी।"[7] इस प्रकार शकुन का चरित्र यह दिखाता है कि कामकाजी स्त्री की आर्थिक स्वतंत्रता और सामाजिक शक्ति यदि भावनात्मक संतुलन से रहित हो जाए, तो वह मातृत्व जैसे पवित्र संबंध को भी स्वार्थ और दमन के उपकरण में बदल सकती है। बंटी का जिद्दी और उद्दंड हो जाना इसी असंतुलित मातृत्व और कामकाजी स्त्री की आंतरिक द्वंद्वात्मक स्थिति का परिणाम है, जिससे यह स्पष्ट होता है कि आधुनिक कामकाजी स्त्री की भूमिका केवल बाहरी सशक्तता तक सीमित नहीं, बल्कि उसके भीतर चल रहे मानसिक संघर्षों से भी गहराई से जुड़ी हुई है।

हिन्दी कथा-साहित्य में यह धारणा उभरकर आती है कि यदि कामकाजी स्त्री घर के भीतर पारंपरिक पत्नी की भूमिका को भी संतुलनपूर्वक निभाती है, तो दांपत्य जीवन में मधुरता बनी रह सकती है। एक आदर्श भारतीय पत्नी पति की सेवा और उसकी प्रसन्नता में ही अपने जीवन का सुख खोजती है। इसका ज्वलंत उदाहरण समर्पण का सुख की गीता है, जो पूर्णतः आज्ञाधारी और समर्पिता पत्नी के रूप में चित्रित है। पति के कहने पर वह बिना किसी आंतरिक विद्रोह के अपनी नौकरी तक छोड़ देती है और इसी समर्पण से पति संतुष्ट रहता है। वहीं दूसरी ओर, कामकाजी स्त्री का पति के प्रति गहरा प्रेम उसे उसके अपमान के विरुद्ध भी दृढ़ बना देता है। उम्र एक गलियारे की देवकी अंतर्जातीय प्रेम-विवाह के कारण पिता द्वारा अस्वीकार की जाती है, किंतु पति के सम्मान और प्रेम के कारण वह पिता के घर जाना भी त्याग देती है। यह उसके दांपत्य-निष्ठा और पति-केंद्रित भावबोध को दर्शाता है। इसी क्रम में दोहरे दायित्व निभाने वाली कामकाजी पत्नी की मानसिक थकान का यथार्थ चित्र मिनारें की प्रेम दीवान के माध्यम से उभरता है, जो कार्यक्षेत्र में अपमान सहकर घर लौटती है और पति को देखते ही भावनात्मक रूप से टूट जाती है। इस प्रकार ये उदाहरण स्पष्ट करते हैं कि हिन्दी साहित्य में कामकाजी स्त्री की सफलता और संतुलन का मूल्यांकन प्रायः उसके दांपत्य समर्पण, पति-निष्ठा और भावनात्मक आश्रय के संदर्भ में किया गया है, जहाँ कार्यक्षेत्र की कठोरता के बीच पति का स्नेह ही उसके लिए संबल बनता है।

समकालीन हिन्दी साहित्य में कामकाजी स्त्री का चित्रण केवल आर्थिक आत्मनिर्भरता तक सीमित नहीं है, बल्कि वह सामाजिक, पारिवारिक और मानसिक स्तरों पर चल रहे गहरे संघर्षों को भी उजागर करता है। कामकाजी स्त्री एक ओर आधुनिकता, शिक्षा और स्वावलंबन का प्रतीक बनकर उभरती है, तो दूसरी ओर पारंपरिक संस्कार, दांपत्य अपेक्षाएँ और मातृत्व-बोध उसे निरंतर बाँधे रखते हैं। इसी कारण उसका जीवन द्वंद्वात्मक हो जाता है, जहाँ कार्यक्षेत्र में अधिकार, निर्णय और आत्मविश्वास से युक्त स्त्री घर के भीतर त्याग, समर्पण और सहनशीलता की भूमिका निभाने को विवश दिखाई देती है। हिन्दी उपन्यासों में यह स्पष्ट है कि कामकाजी स्त्री की सामाजिक स्वीकृति अभी भी इस शर्त से जुड़ी है कि वह घर में 'आदर्श पत्नी' और 'माँ' बनी रहे। कई रचनाओं में वह पति की प्रसन्नता के लिए नौकरी तक त्याग देती है, तो कहीं पति के सम्मान की रक्षा के लिए

अपने मायके और व्यक्तिगत सुखों से भी दूरी बना लेती है। वहीं दूसरी ओर, कार्यस्थल की थकान, अपमान और तनाव के बीच पति के दो स्नेहपूर्ण शब्द ही उसके लिए संबल बनते हैं। इस प्रकार हिन्दी साहित्य में कामकाजी स्त्री न तो पूरी तरह मुक्त दिखाई देती है और न ही पूर्णतः परंपरागत; वह परिवर्तन के संक्रमणकाल में खड़ी एक जटिल, संवेदनशील और संघर्षशील इकाई है। उसका संघर्ष केवल जीविका का नहीं, बल्कि आत्म-संतुलन, संबंधों की रक्षा और अपनी पहचान बनाए रखने का संघर्ष है, जो उसे आधुनिक स्त्री विमर्श का केन्द्रीय पात्र बनाता है।

निष्कर्ष

हिन्दी कथा-साहित्य में कामकाजी स्त्री का चित्रण केवल आर्थिक आत्मनिर्भरता तक सीमित नहीं है, बल्कि वह अस्मिता, संघर्ष और अंतर्द्वंद्व की जटिल प्रक्रिया को भी उजागर करता है। साहित्य में कामकाजी स्त्री एक ओर आधुनिक चेतना, शिक्षा और स्वावलंबन का प्रतीक बनकर उभरती है, तो दूसरी ओर पारंपरिक पारिवारिक दायित्वों, दांपत्य अपेक्षाओं और मातृत्व-बोध से निरंतर जूझती दिखाई देती है। हिन्दी उपन्यासों और कहानियों में उसकी सामाजिक स्वीकृति प्रायः इस शर्त से जुड़ी रहती है कि वह घर के भीतर आदर्श पत्नी और माँ की भूमिका निभाए इस प्रकार कामकाजी स्त्री का संघर्ष केवल जीविका का नहीं, बल्कि आत्म-संतुलन, संबंधों की रक्षा और स्वतंत्र पहचान स्थापित करने का संघर्ष है, जो उसे समकालीन स्त्री-विमर्श का केंद्रीय विषय बनाता है।

संदर्भ ग्रंथ –

1. हिन्दी उपन्यास में कामकाजी महिला, डॉ. रोहिणी अग्रवाल पृ.सं.- 55
2. भारत में विवाह और कामकाजी महिलाएँ, डॉ. प्रमीला कपूर पृ.सं.-24
3. हिन्दी कहानी में नारी की सामाजिक भूमिका, डॉ. अनिल गोयल पृ.सं.-173
4. अनारो, मंजुल भगत - पृ. सं. 48
5. पचपन खंभे लाल दीवारें, उषा प्रियंवदा पृ. सं. 78
6. नरक-दर-नरक, ममता कालिया पृ. सं. 187
7. आपका बंटी, मन्नू भण्डारी - पृ. सं. 47